जैनतत्त्वज्ञान

('धी इण्डीयन फिलासोफीकल कांग्रेस-कलकत्ता'
के प्रथम अधिवेशन में ता० २२-१२-२५ के
दिन यह निबन्ध पढ़ा गया)

लेखक—
इतिहासतत्त्व महोदधि जैनाचार्य्य श्रीविजयेन्द्रसूरि

अनुवादक—
मोतीलालजी मालवीय 'विशारद'

प्रकाशक—
मंत्री, श्रीआत्मानंद जैन ट्रैक्ट सोसायटी
अम्बाला शहर।

सत्यव्रत शर्मा द्वारा
शान्ति प्रेस, मदनमोहन दरवाजा, आगरा में मुद्रित।

ई० १९८२, वीर सं० २४५२, धर्म सं० ४, आत्म सं० ३०

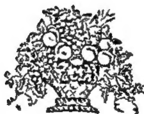
श्रीविजयधर्मसूरि-गुरुदेवेभ्यो नमः ।

भूमिका

भारतवर्ष के अत्यन्त प्राचीन इतिहास में भी यहाँ ऐसे उच्चकोटि के तत्त्वज्ञ पुरुष पाये जाते हैं जिनकी प्रतियोगिता कदाचित् ही कोई देश कर सके । भारतवर्ष के दर्शनों में इतना गम्भीर रहस्य भरा हुआ है कि जिसकी गहराई की थाह लेने में आज तक कोई भी विद्वान् सफलता प्राप्त नहीं कर सका है । अभागा भारतवर्ष आज अन्य देशीय विद्वानों और तत्त्ववेत्ताओं के मुह की ओर देख रहा है । और प्रत्येक बात के प्रतिपादन में हम अन्यदेशीय विद्वान् तत्त्वज्ञों के प्रमाण देने में नहीं हिचकते, इससे बढ़ कर कमजोरी और क्या हो सकती है । मेरी अल्प बुद्धि के अनुसार हमें अभी भारत के दर्शनों पर ही बहुत विचार करना है । मेरी यह धारणा है कि कोई भी भारतीय या विदेशीय विद्वान् दार्शनिक रहस्यों की थाह लेने में जितना ही गहरा पैठता जायगा उतना ही वह उसमें से अमूल्य रत्न निकाल सकेगा, जिससे भारतवर्ष में कुछ न कुछ दार्शनिक नूतनता अवश्य ही दिखाई देगी ।

इसलिए कि, भारतवर्ष के विद्वानों को एक दूसरे के दार्शनिक तत्त्वों से परिचित होने का अवसर मिले, कलकत्ता की 'फिलॉसॉफिकल सोसाइटी' ने इस कांग्रेस को निमन्त्रण देने की योजना खडी कर उसको कार्य्यरूप में परिणित कर दिखाने के लिए मैं 'सोसाइटी' को सादर धन्यवाद देते हुए अपने विषय को हाथ में लेता हूँ।

—विजयेन्द्रसूरि।



दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक कलकत्ते की गत फ़िलॉसोफिकल कांग्रेस में भेजे गये, पूज्य आचार्य्य देव श्री विजयेन्द्रसूरि जी महाराज के गुजराती निबन्ध का हिन्दी अनुवाद है। ऐसे पूज्य महानुभाव के निबन्ध हिन्दी अनुवाद करने का सौभाग्य तो मुझे अवश्य प्राप्त हुआ, किन्तु उक्त कांग्रेस के अधिवेशन के केवल ४-५ दिन ही शेष रह जाने और उतने ही समय में हिन्दी से अंग्रेजी अनुवाद कराने की शीघ्रता के कारण मैं अपनी अनुवादित प्रति को एक बार फिर से देख भी न सका था।

अनुवाद करने का मेरा यह पहिला ही साहस है। मूल के भावों को और वह भी दार्शनिक भावों को मातृभाषा के साँचे में ठीक ठीक ढालना मेरे जैसे "रँगरूट" के लिए असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था, और है। इसलिए रँगरूटी अनुवाद में भूलों की सम्भावना होना अशक्य नहीं। किन्तु साहित्यरत्न लाला कन्नोमल जी एम० ए० तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्राकृत के प्रोफेसर पण्डित हरगोविंददास महाशय को मैं धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने इस अनुवाद पर एक दृष्टि डालने की कृपा अवश्य की थी। विशेष कर पूज्य मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रगट किये बिना

नहीं रह सकता, जिन्होंने अनुवाद करने के लिए मुझे उत्तेजना दी थी एवं जिनने प्रेस में भेजने से पहिले इसमें की कई भूलों को सुधारने की भी कृपा की है।

अन्त में भाव व भाषा सम्बन्धी अवशेष भूलों के लिए मैं पाठकों का क्षमा प्रार्थी हूँ।

उज्जैन,
आषाढ़ एकादशी
सं० १९८३ वि०

अनुवादक—
मोतीलाल मालवीय,



❧ जैन तत्त्वज्ञान ☙



प्राचीनता

"जैनदर्शन" भारतवर्ष के आस्तिक षट्दर्शनों में से एक है। यह धर्म अथवा दर्शन अत्यन्त प्राचीन है। यह बात सही है कि जब तक जैनधर्म के ग्रन्थ विद्वानों के हाथ में न आये, तभी तक लोग जैन तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ बने रहे और उसी समय तक उन लोगों ने यह अप्रामाणिक कल्पना कर रखी थी कि जैनधर्म एक 'नास्तिक', 'अनीश्वरवादी' होते हुए केवल बौद्ध धर्म की शाखा मात्र है। इसी प्रकार की अनेक भ्रमपूर्ण कल्पनाओं से लोगों की श्रद्धा जैनदर्शन पर से हटी हुई थी। परन्तु गत कितने ही वर्षों से जैसे जैसे जैन साहित्य विद्वानों के हाथों में पड़ता गया है, और जैनधर्म के गम्भीर तत्त्व लोगों की दृष्टिमें आने लगे हैं उसी समय से उनका दृष्टिकोण बदलता जारहा है। केवल यही नहीं, दूसरी ओर ऐतिहासिक कसौटी में भी जैनधर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में अनेक प्रमाण प्राप्त होने लगे हैं और दिन दिन ऐतिहासिक खोज होती ही जारही है। ऐतिहासिक सत्यता कौन न स्वीकार करेगा? इन प्रमाणों से ऐतिहासिक साक्षी मिलने पर

तत्वज्ञान के जिज्ञासु विद्वान् अपना मत परिवर्त्तन करने लगे। जैनधर्म को अर्वाचीन और कुछ ही दिनों का मान बैठने वालों को भी यह देखने में आया कि वास्तव में यह प्राचीन ही है। वेद जैसे प्राचीन से प्राचीन महामान्य ग्रन्थों में जब जैनतीर्थङ्करों के नाम मिलते हैं, श्रीमद्भागवत जैसे भारतीय ऐतिहासिक ग्रन्थ में जब जैनतीर्थङ्कर ऋषभदेव का—जिनको हुए करोड़ों वर्ष माने जाते हैं—उल्लेख मिलता है, तब जैनधर्म को वैदिककाल से भी पूर्व का मानने में कौन और क्यों आनाकानी कर सकता है? पाश्चात्य विद्वानों में भी कुछ समय तक यह धारणा प्रबल रही कि जैनधर्म एक पृथक् और स्वतन्त्र धर्म नहीं, बल्कि बौद्ध धर्म की एक शाखा है, किन्तु जब से बौद्धों के पिटक ग्रन्थों—'महावग्ग और महापरिनिब्बाण' आदि—में जैनधर्म और महावीर के सम्बन्ध में वर्णन पाये गये, तब उन विद्वानों को और भी कई प्रमाण दिखलाते हुए यह स्पष्ट जाहिर करना पड़ा है कि जैनधर्म एक प्राचीन और स्वतन्त्र धर्म है।

जर्मनी के सुप्रसिद्ध विद्वान् 'डाक्टर हर्मन जेकोबी' स्पष्ट कहते हैं कि —

I have come to conclusion that Jain religion is an extremely ancient religion independent of other faiths It is of great importance in studying the ancient philosophy and religious doctrines of India

अर्थात्—मैं इस निर्णय पर पहुँच चुका हूँ कि जैनधर्म अत्यन्त प्राचीन और अन्य धर्मों से प्रथक् एक स्वतन्त्र धर्म है। भारत के प्राचीन तत्त्वज्ञान और धार्मिक-जीवन को जानने के लिए यह अत्यन्त उपयोगी है।

जैनधर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में प्रसङ्गवश मुझे यह और कहना पड़ता है कि भारतवर्ष के प्राचीन दर्शनों में ही एक ऐसा तत्त्व समाया हुआ है जो वर्त्तमान विचारकों की विचार दृष्टि में नहीं दिखाई देता और इसीलिए मेरे यह अनुरोध करने में अयुक्ति न दिखाई देगी कि केवल भारत के ही नहीं, वरन सम्पूर्ण संसार के विद्वानों को जैनदर्शन में बताये हुए तत्त्वज्ञान का अभ्यास अवश्य करना ही चाहिए।

जैन तत्त्वज्ञान

सज्जनों! मैं फिर कहता हूँ कि जैनतत्त्वज्ञान (Jain Philosophy) एक ऐसा रहस्यपूर्ण तत्त्वज्ञान है जिसमें गोता लगाने पर किसी भी जिज्ञासु को नई से नई वस्तुएँ ही प्राप्त होती हैं। इस तत्त्वज्ञान की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में केवल इतना ही कह देना चाहता हूँ कि यह तत्त्वज्ञान उन तीर्थङ्करों का प्रकाशित किया हुआ है जो "कैवल्य"—केवलज्ञान (त्रिकाल-१ भूत २ वर्त्तमान ३ भविष्य, व विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों को उनके वास्तविक रूप में दिखाने वाला ज्ञान)

तत्पश्चात के जिज्ञासु विद्वान् अपना मत परिवर्त्तन करने लगे। जैनधर्म को अर्वाचीन और कुछ ही दिनों का मान बैठने वालों को भी यह देखने में आया कि वास्तव में यह प्राचीन ही है। वेद जैसे प्राचीन से प्राचीन महामान्य ग्रन्थों में जब जैनतीर्थङ्करों के नाम मिलते हैं, श्रीमद्भागवत जैसे भारतीय ऐतिहासिक ग्रन्थ में जब जैनतीर्थङ्कर ऋषभदेव का—जिनको हुए करोड़ों वर्ष माने जाते हैं—उल्लेख मिलता है, तब जैनधर्म को वैदिककाल से भी पूर्व का मानने में कौन और क्यों आनाकानी कर सकता है? पाश्चात्य विद्वानों में भी कुछ समय तक यह धारणा प्रबल रही कि जैनधर्म एक प्रथक् और स्वतन्त्र धर्म नहीं, बल्कि बौद्ध धर्म की एक शाखा है, किन्तु जब से बौद्धों के पिटक ग्रन्थों—'महावग्ग और महापरिनिव्वाण' आदि—में जैनधर्म और महावीर के सम्बन्ध में वर्णन पाये गये, तब उन विद्वानों को और भी कई प्रमाण दिखलाते हुए यह स्पष्ट जाहिर करना पड़ा है कि जैनधर्म एक प्राचीन और स्वतन्त्र धर्म है।

जर्मनी के सुप्रसिद्ध विद्वान् 'डाक्टर हर्मन जेकोबी' स्पष्ट कहते हैं कि —

I have come to conclusion that Jain religion is an extremely ancient religion independent of other faiths It is of great importance in study ing the ancient philosophy and religious doct rines of India

अर्थात्—मैं इस निर्णय पर पहुँच चुका हूँ कि जैनधर्म अत्यन्त प्राचीन और अन्य धर्मों से पृथक् एक स्वतन्त्र धर्म है। भारत के प्राचीन तत्त्वज्ञान और धार्मिक-जीवन को जानने के लिए यह अत्यन्त उपयोगी है।

जैनधर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में प्रसङ्गवश मुझे यह और कहना पड़ता है कि भारतवर्ष के प्राचीन दर्शनों में ही एक ऐसा तत्त्व समाया हुआ है जो वर्त्तमान विचारकों की विचार सृष्टि में नहीं दिखाई देता और इसीलिए मेरे यह अनुरोध करने में अत्युक्ति न दिखाई देगी कि केवल भारत के ही नहीं, वरन सम्पूर्ण संसार के विद्वानों को जैनदर्शन में बताये हुए तत्त्वज्ञान का अभ्यास अवश्य करना ही चाहिए।

जैन तत्त्वज्ञान

सज्जनों! मैं फिर कहता हूँ कि जैनतत्त्वज्ञान (Jain Philosophy) एक ऐसा रहस्यपूर्ण तत्त्वज्ञान है जिसमें गोता लगाने पर किसी भी जिज्ञासु को नई से नई वस्तुएँ ही प्राप्त होती हैं। इस तत्त्वज्ञान की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में केवल इतना ही कह देना चाहता हूँ कि यह तत्त्वज्ञान उन तीर्थङ्करों का प्रकाशित किया हुआ है जो "कैवल्य"—केवलज्ञान (त्रिकाल-१ भूत २ वर्त्तमान ३ भविष्य, व विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों को उनके वास्तविक रूप में दिखाने वाला ज्ञान)

को प्राप्त कर चुके हैं। यह निर्विवाद सिद्ध है कि ऐसे ज्ञान की प्राप्ति होने पर जो तत्त्व प्रकाशित किया जाय उसमें असत्य का लेशमात्र भी नहीं हो सकता। यही कारण है कि जो जो विद्वान् जैनतत्त्वज्ञान का अभ्यास कर रहे हैं वे मनन करने पर उसकी उत्कृष्टता स्वीकार कर रहे हैं। केवल यही नहीं, वैज्ञानिक पद्धति से इस तत्त्वज्ञान का अभ्यास करने वाले तो इस पर और भी मुग्ध हो रहे हैं। इस प्रकार यह विज्ञान की कसौटी पर भी चढ़ कर सत्य सिद्ध होता जारहा है। इस सम्बन्ध में इटालीयन विद्वान् डाक्टर एल पी. टेसिटोरी लिखते हैं कि —

"जैनधर्म एक अत्युच्च पंक्ति में है। इसके मुख्य तत्त्व विज्ञानशास्त्र के आधार पर रचे गये हैं। यह केवल मेरा अनुमान ही नहीं, पूर्ण अनुभव भी है। जैसे जैसे पदार्थविज्ञान का विकास होता जारहा है वैसे ही जैन धर्म के सिद्धान्त सिद्ध होते जारहे हैं।"

ऐसे उत्तम जैनतत्त्वज्ञान पर मैं इस छोटे से निबन्ध में क्या और कितना लिख सकता हूँ यह आप भली भाँति विचार कर सकते हैं। इसलिए जैनधर्म में प्रकाशित किये हुए अनेक और अत्यन्त गहन तत्त्वों का विवेचन न करते हुए यहाँ संक्षेप में स्थूल स्थूल तत्त्वों के सम्बन्ध में ही कुछ कहूँगा।

॥ १ ईश्वर ॥

सब से पहिले जैनों का ईश्वर के विषय में क्या मन्तव्य है, यह दिखलाने का प्रयत्न करता हूँ।

ईश्वर के लक्षण कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य अपने 'योगशास्त्र' में इस प्रकार दिखलाते हैं—

"सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः॥"

अर्थात्—सर्वज्ञ, राग द्वेषादि दोषों से मुक्त, त्रैलोक्य द्वारा पूजनीय और वास्तविक सत्य सत्य अर्थ को प्रकट करने वाला ही देव, अर्हत् या परमेश्वर है। इसी प्रकार हरिभद्रसूरि ने 'महादेव अष्टक' में भी कहा है—

यस्य सक्लेश जननो रागो नास्त्येव सर्वथा।
न च द्वेषोऽपि सत्त्वेषु शमेन्धनदवानलः॥
न च मोहोऽपि सज्ज्ञानाच्छादनोऽशुद्धवृत्तकृत्।
त्रिलोकख्यातमहिमा महादेवः स उच्यते॥
यो वीतरागः सर्वज्ञो यः शाश्वतसुखेश्वरः।
क्लिष्टकर्मकलातीतः सर्वथा निष्कलस्तथा॥
यः पूज्यः सर्वदेवानां यो ध्येयः सर्व देहिनाम्।
यः स्रष्टा सर्वनीतीनां महादेवः स उच्यते॥

को प्राप्त कर चुके हैं। यह निर्विवाद सिद्ध है कि ऐसे ज्ञान की प्राप्ति होने पर जो तत्त्व प्रकाशित किया जाय उसमें असत्य का लेशमात्र भी नहीं हो सकता। यही कारण है कि जो जो विद्वान् जैनतत्त्वज्ञान का अभ्यास कर रहे हैं वे मनन करने पर उसकी उत्कृष्टता स्वीकार कर रहे हैं। केवल यही नहीं, वैज्ञानिक पद्धति से इस तत्त्वज्ञान का अभ्यास करने वाले तो इस पर और भी मुग्ध हो रहे हैं। इस प्रकार यह विज्ञान की कसौटी पर भी चढ़ कर सत्य सिद्ध होता जारहा है। इस सम्बन्ध में इटालीयन विद्वान् डाक्टर एल पी. टेसिटोरी लिखते हैं कि —

"जैनधर्म एक अत्युच्च पंक्ति में है। इसके मुख्य तत्त्व विज्ञानशास्त्र के आधार पर रचे गये हैं। यह केवल मेरा अनुमान ही नहीं, पूर्ण अनुभव भी है। जैसे जैसे पदार्थविज्ञान का विकास होता जारहा है वैसे ही जैन धर्म के सिद्धान्त सिद्ध होते जारहे हैं।"

ऐसे उत्तम जैनतत्त्वज्ञान पर मैं इस छोटे से निबन्ध में क्या और कितना लिख सकता हूँ यह आप भली भाँति विचार कर सकते हैं। इसलिए जैनधर्म में प्रकाशित किये हुए अनेक और अत्यन्त गहन तत्त्वों का विवेचन न करते हुए यहाँ संक्षेप में स्थूल स्थूल तत्त्वों के सम्बन्ध में ही कुछ कहूँगा।

उपर्युक्त लक्षणों से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि जो राग, द्वेष, मोह से मुक्त हैं, त्रिलोक में जिनकी महिमा प्रसिद्ध है जो वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं, शाश्वत सुख के स्वामी हैं, जो सर्व प्रकार के कर्मों से रहित हैं सर्वथा कलाहीन हैं, सर्व देवों द्वारा पूज्य हैं, सभी प्राणियों के ध्येय हैं, और जो समस्त नीति का मार्ग बताने वाले (पथ प्रदर्शक) हैं, वे ही महादेव-ईश्वर हैं।

ध्यान रहे कि ईश्वर को नीति का वक्ता इसी अपेक्षा से कहा गया है कि वे शरीरावस्था में जगत् को कल्याण का मार्ग बता रहे थे। शरीर छूट कर मुक्ति को पहुँचने पर उनमें किसी प्रकार का भी कर्तृत्व नहीं रहता। यह बात अभी कही जायगी।

संक्षेप में कहा जाय तो 'परिक्षीणसकलकर्मा ईश्वरः' अर्थात् जिसके समस्त कर्मों का क्षय हो चुका है उसी का नाम ईश्वर है।

जो आत्माएं शनै शनै आत्मस्वरूप का विकास करती हुई परमात्मस्थिति को प्राप्त करती हैं वे सब "ईश्वर" कहलाती हैं। यह जैन सिद्धान्त का मन्तव्य नहीं कि 'ईश्वर कोई एक ही व्यक्ति है'। जैन सिद्धान्तानुसार कोई भी आत्मा कर्मों को 'परमात्मा' बन सकती है। हाँ, परमात्म स्थिति सभी सिद्धात्माओं के एका, होने से

समुच्चय रूप में कदाचित् माना जाय तो इसमें कोई भूल नहीं, परन्तु जगत् की कोई भी आत्मा ईश्वर नहीं हो सकती— परमात्मस्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकती, ऐसा जैन सिद्धान्त प्रतिपादन नहीं करता।

इसी स्थान पर, आत्मा किस प्रकार परमात्मा हो सकती है ? परमात्मस्थिति को पहुँची हुई आत्मा कहाँ रहती है ? इत्यादि बातों का विवेचन करना आवश्यक है, किन्तु विस्तार-भय और समय की कमी के कारण जैनों के ईश्वर सम्बन्धी मुख्य मुख्य मन्तव्यों की ओर ही मैं आप लोगों का ध्यान आकर्षित करूँगा।

पहिला मन्तव्य यह है कि '**ईश्वर अवतार धारण नहीं करता**'। और यह बात तो सहज ही समझी जा सकती है कि जो आत्माएं सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर सिद्ध होती हैं—संसार से मुक्त होती हैं, उनको फिर संसार में अवतार लेने का कोई कारण ही नहीं रह पाता। जन्म मरण के चक्र में पड़ने का कारण 'कर्म' है। कर्म का ही परिणाम जन्म मरण है, किन्तु मुक्तावस्था में कर्म का नाम चिह्न भी नहीं रहता। तब बिना 'कर्म' रूपी कारण के 'जन्म' धारण करने के रूप कार्य्य की उत्पत्ति हो ही कैसे सकती है ? क्योंकि—

"दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः॥

बीज के अत्यन्त जल जाने पर जिस प्रकार अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार, कर्मरूपी बीज के सर्वथा जल जाने पर संसाररूपी अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता। और मुक्तावस्था में नवीन कर्मबन्धन का कोई कारण नहीं रहता, क्योंकि कर्म एक जड़ पदार्थ है। उसके परमाणु रागद्वेष की चिकनाई पर ही चिपकते हैं। और मुक्तावस्था में परमात्मस्थिति को पहुँची हुई आत्माओं को ऐसी चिकनाई से स्पर्शमात्र भी नहीं होता इसलिए मुक्तावस्था में नवीन कर्मबन्धन का भी अभाव है। और इसीलिए—कर्मबन्धन के अभाव के कारण—वे मुक्तात्माएं फिर संसार में नहीं आती हैं।

जैनों का दूसरा मन्तव्य यह है कि ईश्वर जगत् का कर्त्ता नहीं हो सकता। जैन दर्शन में ईश्वर कर्तृत्व का अभाव माना गया है। सामान्य दृष्टि से देखा जाने पर संसार की सभी वस्तुएं किसी न किसी की बनाई हुई अवश्य दिखाई देती हैं, इसी पर से यह भी कल्पना कर ली जाती है कि ऐसे ही जगत् जैसी वस्तु का बनाने वाला भी कोई न कोई अवश्य है। क्योंकि बिना किसी के बनाये और बिना किसी की प्रेरणा के यह अपना काम नियमित रीति से चला रही हो, यह कैसे सम्भव हो सकता है? जनता को यह शंका अवश्य होती है।

परन्तु विचारने की बात है कि हम ईश्वर का जो स्वरूप मानते हैं, जिन जिन गुणों से युक्त उस ईश्वर को पहिचानते

हैं, उन बातों के साथ 'ईश्वर कर्तृत्व' कहां तक ठीक बैठता है, इसका भी विचार किया जाना चाहिए।

सभी दर्शनकारों के मतानुसार ईश्वर रागद्वेष रहित, सच्चिदानन्द, अमोही, अच्छेदी, अभेदी, अनाहारी, अकषायी आदि विशेषणों वाला समझा जाता है। इन विशेषणों से युक्त ईश्वर जगत् का कर्त्ता कैसे हो सकता है? पहिली बात यह है—जिसे सब स्वीकार करते हैं—कि, 'ईश्वर अशरीरी है'। अशरीरी ईश्वर किसी भी वस्तु का कर्त्ता कैसे मान लिया जासकता है? कदाचित 'इच्छा से' कहा जाय, तो इच्छा तो रागाधीन है। और ईश्वर को तो रागद्वेष से रहित बताया गया है। और ईश्वर में भी रागद्वेष, इच्छा, रति, अरति आदि दुर्गुण माने जाँय, तो फिर वह ईश्वर ही किस बात का?

और लीजिए, अगर ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानाजाय तो जगत् की 'आदि' निश्चित होती है। और यदि जगत् 'आदि' है तो फिर जब जगत् नहीं बना, तब क्या था? कहा जाय कि अकेला 'ईश्वर' था। परन्तु अकेले 'ईश्वर' का व्यवहार ही 'वदतो व्याघात' जैसा है। 'ईश्वर' शब्द अन्य किसी शब्द की अपेक्षा अवश्य रखता है। 'ईश्वर' किस का? कहना ही पड़ेगा कि 'संसार' की अपेक्षा ईश्वर'। 'संसार' है तो 'ईश्वर' है और 'ईश्वर' है तो 'संसार' है। दोनों शब्द

३ मोहनीय—यह कर्म मदिरा के समान है। मदिरा के नशे में सुधबुध भूले हुए मनुष्य के समान मोह से मस्त हुआ मनुष्य कर्तव्याकर्तव्य को नहीं समझ सकता।

४ अन्तराय—यह राजा के कोषाध्यक्ष (Finance Minister) की तरह है। राजा की इच्छा दान देने की हो किन्तु कोषाध्यक्ष कई बहाने बना कर दान न देने देता है वैसे ही यह कर्म शुभ कार्यों में विघ्न डालता है।

५—वेदनीय—मनुष्य को मिलने वाला सुख दुःख का अनुभव इसी कर्म का परिणाम है। सुख साता शान्ति वेदनीय कर्म का और दुःख असाता अशान्ति वेदनीय कर्म का परिणाम है।

६ आयुष्य कर्म—जीवन को बनाये रखने वाला कर्म आयुष्य कर्म कहलाता है। देव, मनुष्य, तिर्यञ्च (पशु आदि) और नारक का आयुष्य प्राप्त होना इसी कर्म का फल है।

७ नाम कर्म—उत्तम गति, सुन्दर शरीर और पूर्ण न्द्रिय आदि की प्राप्ति शुभ नाम कर्म के कारण से और नीच गति (अधम योनि) कुरूप वा रोगीला शरीर और इन्द्रियों की हीनता आदि अशुभ नाम कर्म से प्राप्त हुआ करते हैं।

८ गोत्र कर्म—उच्च और नीच गोत्र की प्राप्ति इसी कर्म से होती है। शुभ कर्म से उच्च और अशुभ कर्म से नीच गोत्र प्राप्त होता है।

उक्त आठकर्मों के अनेकानेक भेद उपभेद हैं। इनका वर्णन 'कर्मग्रन्थ' "कम्मपयडी" आदि में अत्यन्त विस्तार के साथ किया हुआ है।

उक्त कर्मों को सूक्ष्मता से अवलोकन करने वाला यह सहज ही मालूम कर सकेगा कि जगत् में जो अनेक प्रकार की विचित्रताएं दिखाई देती हैं वे सब इन्हीं कर्मों से उत्पन्न हुई हैं। एक सुखी तो दूसरा दुखी, एक राजा तो दूसरा प्रजा, एक धनवान तो दूसरा महादरिद्र, एक स्वस्थ तो दूसरा अनेकानेक उपाधियों में ग्रस्त, कोई मोटर और वायुयानों में हवाखोरी करता है तो किसी को बैलगाडी भी नसीब नहीं, कोई वैसाख ज्येष्ठकी भयङ्कर गर्मी और लू से बचने के लिए खश की टट्टियों में आराम करता है तो किसी दूसरे को उसी गर्मी और लू में नङ्गे पैर चलना पडता है। किसी के यहाँ धनधान्य आवश्यक्ता से अत्यन्ताधिक है तो किसी बिचारे को पेट भर भोजन भी नहीं मिलता। किसी को रहने के लिए एक नहीं, अनेक महल हैं तो दूसरे को टूटी झोंपडी भी नहीं। एक महान् विद्वान् है तो दूसरा महामूर्ख। जिधर देखो उधर विषमता और विचित्रता का साम्राज्य। यह सब क्या है? इन सबका कारण क्या है? यह इतनी विचित्रता क्यों? सब का उत्तर और कुछ नहीं, केवल कर्म का फल है। यह उनके किये हुए कर्मों का फल ही है। जीव जैसे जैसे कर्म कर जन्म लेते हैं वैसे ही वैसे उनको फल मिलते हैं।

यह ऊपर ही कहा जा चुका है कि कर्म एक जड़ पदार्थ— पौद्गलिक पदार्थ है। तो भी उसकी शक्ति कुछ कम नहीं। कर्म जड़ होने पर भी आत्मा को—चैतन्य को—अपनी ओर खींचता है और जिस प्रकार का कर्म होता है, वैसी गति या सुख दुःख की ओर लेजाता है।

आत्मा पुरुषार्थ करते करते—अपनी अनन्तशक्ति का विकास करते करते जब इन कर्मों का सर्वथा नाश करेगा, तभी वह अपने असली स्वरूप को—ईश्वरत्व को प्राप्त करेगा।

यहाँ यह शंका उठसकती है कि अनादिकाल से जीव और कर्म एक साथ रहे हुए हैं तो फिर ये कर्म सर्वथा अलग कैसे हो सकते हैं ? उन कर्मों का सर्वथा अभाव कैसे सम्भवनीय है ?

इस शंका का समाधान विचारणीय है। आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि रहता आया है यह सत्य है। परन्तु इसका अर्थ यह है कि अनादि काल से आत्मा पर नये नये कर्मों की तह चढ़ती जाती है और पुराने कर्म नष्ट होते रहते हैं अर्थात् कोई भी एक कर्म आत्मा के साथ अनादि से संयुक्त नहीं। परन्तु अलग अलग (भिन्न भिन्न) समय पर अलगर कर्मों का प्रवाह अनादि काल से चला आरहा है और जब निश्चित है कि जूने कर्म अलग होते रहते हैं और नये चिपकते रहते हैं,तब यह मानना कुछभी कठिन नहीं कि कोई समय ऐसा भी आवे कि आत्मा सर्वथा कर्मों से मुक्त भी होजाय। हम

अनेक कार्यों में अनुभव करसकते हैं कि एक वस्तु एक स्थान पर बढ़ती है तो दूसरी जगह कम होती है। इस पर से यह निश्चय है कि किसी जगह उस वस्तु का सर्वथा अभाव भी हो। जैसे जैसे साधन की प्रबलता अधिक प्राप्त होती जाय, वैसे ही उस कार्य में अधिक सफलता मिलती रहती है। कर्मक्षय के प्रबल कारण एकत्रित होने पर बिलकुल भी कर्म क्षय होसकता है।

सुवर्ण और मिट्टी का सम्बन्ध अनादिकाल का होता है, परन्तु प्रयत्न करने पर वही मिट्टी सुवर्ण से अलग होजाती है और स्वच्छ सुवर्ण अलग निकल आता है। इसी भाँति, आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादिकाल से होने पर भी प्रयत्न करने से वह सर्वथा मुक्त हो सकता है। जब कर्म सर्वथा क्षय होजाते हैं तब फिर उस जीव को नये कर्म नहीं लगते क्योंकि कर्म ही कर्म को लाता है। यदि इसी को दूसरे शब्दों में कहाजाय तो रागद्वेष की चिकनाई ही कर्म को खींचती है, परन्तु कर्म के अभाव में वह चिकनाई रहती नहीं।

पांच कारण—

ऊपर बताये हुए 'कर्म' के विवेचन पर से आप समझ चुके होंगे कि जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध होने पर भी पुरुषार्थ से इन कर्मों का क्षय हो सकता है—सर्वथा क्षय किया जा सकता है। कई एक महानुभाव यह समझने

में भूल करते हैं कि "जैनधर्म मे केवल कर्म की ही प्रधानता है। कर्म पर ही विश्वास रख कर बैठे रहना है।" परन्तु सज्जनो! ऐसा नहीं है। जैन सिद्धान्तों में कर्म की ही तरह 'पुरुषार्थ' का भी प्रतिपादन किया गया है। कर्मों को हटाने के लिए-दूर करने के लिए अनेक उपाय—ज्ञान, ध्यान, तप, जप, सयमादि-बतलाये गये हैं। यदि अकेले कर्म पर ही भरोसा रख कर बैठे रहना बतलाया गया होता तो आज जैनों में उग्रतपस्या, अद्वितीय त्याग, वैराग्य, महाकष्टसाध्य सयम आदि देखने में आते हैं, वे देखने में आते ही नहीं। इसलिए ध्यान रखना चाहिए कि जैन धर्म में केवल कर्म का प्राधान्य नहीं, परन्तु कर्म के साथ में 'पुरुषार्थ' की भी उतनी ही सीमा तक महिमा गाई गई है। हां, "प्राणी जैसे जैसे कर्म करता है वैसा ही फल उसको मिलता है" ऐसी उद्घोषणा जरूर करने में आई है। परन्तु जहाँ तक मेरा ख्याल है, इस बात में तो कोई भी दर्शनकार असहमत नहीं होता।

अब, मैं ऊपर कह चुका हूँ वैसे कर्म और पुरुषार्थ का जैनदर्शन में प्रतिपादन किया गया है, यह सत्य है, किन्तु उससे आगे बढ़ कर कहूँ तो जैनदर्शन में किसी भी कार्य्य की उत्पत्ति में कर्म और पुरुषार्थ, केवल ये दो ही नहीं बल्कि पाच कारण माने गये हैं। वे पाच कारण ये हैं —

१ काल २ स्वभाव ३ नियति ४ पुरुषाकार और ५ कर्म। यह पाँचों कारण एक दूसरे के साथ इतने अधिक मिल गये-सयुक्त हो गये हैं कि इनमें से एक भी 'कारण' के बिना-अभाव में कोई भी कार्य हो नहीं सका।

,यह बात हम एक उदाहरण द्वारा जाच लें। जैसे, स्त्री बालक को जन्म देती है, उसमें सब से प्रथम काल (समय) की अपेक्षा है, क्योंकि बिना काल (समय) के स्त्री गर्भधारण नहीं कर सकती। दूसरा कारण स्वभाव है। यदि उसमें बालक उत्पन्न करने का स्वभाव होगा, तभी उत्पन्न होगा, अन्यथा नहीं होता। तीसरा नियति (अवश्यभाव)। यदि पुत्र होने का होगा तभी होगा अन्यथा कुछ भी कारण उपस्थित होकर गर्भ नष्ट हो जावेगा। चौथा पुरुषाकार (पुरुषार्थ)। पुत्र उत्पन्न होने में पुरुषार्थ की भी आवश्यकता है। कुमॉरी कन्या को कभी पुत्र उत्पन्न होगा ही नहीं। इन चार कारणों के होने के साथ कर्म (भाग्य) में होगा तभी होगा। अर्थात् पुत्र उत्पन्न होने के कार्य्य में उपर्युक्त पॉचों कारण मिलते हैं, तब कार्य्यसिद्धि होती है। केवल भाग्य पर आधार रखकर बैठे रहने में किसी भी कार्य्य की सिद्धि नहीं होती। तिल्ली में तेल होता है किन्तु वह बिना उद्यम (पुरुषार्थ) के नहीं निकलता। केवल उद्यम (पुरुषार्थ) को ही फलदायक माना जावे तो

चूहा उद्योग करने पर भी सर्प के मुँह में आ पड़ता है। बहुत से मनुष्य धन की प्राप्ति के लिए उद्यम करते हैं किन्तु फल नहीं पाते। केवल भाग्य (कर्म) और उद्यम दो ही माने जावें तो भी ठीक नहीं। क्योंकि कृषक उचित समय के बिना उत्तम बीज को बोने पर भी फलीभूत नहीं होता, क्योंकि काल नहीं। केवल इन तीन को ही कारण मान लेने से भी काम नहीं चलता, क्योंकि बीज के बोने में काल, भाग्य और पुरुषार्थ होने पर भी 'स्वभाव' का अभाव होने से पैदा होगा ही नहीं। अब यदि ये चारों कारण काल, कर्म, पुरुषार्थ, स्वभाव हों, किन्तु भवितव्यता (होनहार) न हो तो भी कार्य्यसिद्धि नहीं होती। बीज अच्छा हो। अङ्कुर भी उत्पन्न होगया हो किन्तु यदि होनहार (भवितव्यता) अनुकूल न हो तो कुछ न कुछ विघ्न होकर वह नष्ट हो ही जावेगा।

इस लिए जैनशास्त्रकारों ने किसी भी 'कार्य्य' की निष्पत्ति में इन पाँचों कारणों को माना है और इन पाँचों कारणों का एक दूसरे की अपेक्षा अवश्य ही हुआ करती है। किसी भी कार्य्य की सिद्धि में ये पाँचों ही कारण होते हैं। किसी एक का भी अभाव नहीं होता।

कहने का तात्पर्य यह कि जैनशासन की यह मुख्य विशेषता है कि किसी भी वस्तु में एकान्त का अभाव है।

'एकान्त' रीति से अमुक कारण से ही ऐसा हुआ, यह मानने की मनाई है और इसी से ही जैनदर्शन में 'स्याद्वाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रसङ्गपर में इस स्याद्वाद के सिद्धान्त का भी कुछ स्पष्टीकरणकर देना चाहता हू।

स्याद्वाद—

स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्तवाद। अनेकानेकवाद की प्रधानता जैनदर्शन में इतनी अधिक मानी गई है कि जिसके लिए इस दर्शन का नाम भी 'अनेकान्तदर्शन' रखने में आया है। इस स्याद्वाद का वास्तिवक स्वरूप न समझ सकने के कारण ही कितने ही ने इसको 'सशयवाद' मान लिया। परन्तु यथार्थ में यह 'स्याद्वाद' 'सशयवाद' नहीं है 'सशय' तो यह है कि "एक वस्तु किसी ठीक (यथार्थ) रूप में समझने में न आवे"। अधेरे में किसी लम्बी वस्तु को देख कर विचार उत्पन्न हो कि 'यह रस्सी है या सर्प'? अथवा दूर से लक्डी का ठूठ जैसा दखकर विचार होकि, "यह मनुष्य है या लकड" इसका नाम सशय है। इसमें 'सर्प है या रस्सी' किंवा 'मनुष्य या लकड' कुछ भी निर्णय करने में नहीं आया। यह एक सशय है। परन्तु स्याद्वाद में ऐसा नहीं है। तब 'स्याद्वाद' क्या वस्तु है, यह हमें देखना है।

'स्याद्वाद' की संक्षिप्त व्याख्या यह हो सकती है —

"एकस्मिन् वस्तुनि सापेक्षरीत्या विरुद्ध नाना धर्मस्वीकारो हि स्याद्वाद॰।

एक पदार्थ में अपेक्षापूर्वक विरुद्ध नाना प्रकार के धर्मों का स्वीकार किया जाय, इसका नाम स्याद्वाद है।

संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में अनेक धर्म भरे हुए हैं। यदि सापेक्षरीति से इन धर्मों का अवलोकन किया जाय तो उस में उन धर्मों की सत्यता अवश्य दिखाई देगी। एक व्यवहारिक दृष्टान्त ही लीजिये।

एक मनुष्य है। उसमें अनेक धर्मों का अस्तित्व है। वह पिता है, पुत्र है, काका है, भतीजा है, मामा है, और भानेज भी है। यह सभी धर्म एक दूसरे के (परस्पर) विरुद्ध हैं, तो भी ये एक ही व्यक्ति में हैं किन्तु ये विरुद्ध धर्म अपेक्षापूर्वक देखने पर ही सिद्ध होते हैं। अर्थात् वह पिता है उसके पुत्र की अपेक्षा से वह पुत्र है उसके पिता की अपेक्षा से, वह काका है उसके भतीजे की अपेक्षा से, वह भतीजा है उसके काका की अपेक्षा से वह मामा है उसके भानेज की अपेक्षा से, और वह भानेज है उसके मामा की अपेक्षा से। यदि इस प्रकार अपेक्षापूर्वक न देखा जाय तो ऐसे विरुद्ध धर्म एक व्यक्ति में सम्भव ही नहीं हो सके।

इसी प्रकार संसार के सभी पदार्थों में—आकाश से लेकर दीपक तक में अपेक्षा पूर्व नित्यत्व, अनित्यत्व, प्रमेयत्व वाच्य-

इत्यादि धर्म हम देख सकते हैं। यहां तक कि 'आत्मा' जैसी 'नित्य' मानी जाने वाली वस्तु को भी यदि स्याद्वाद की दृष्टि से देखें तो उसमें नित्यत्व, अनित्यत्व आदि धर्म मालूम होंगे।

इस प्रकार कुल वस्तुओं में सापेक्षरीत्यानुसार अनेक धर्म भरे होने से ही **श्रीमान उमास्वाती वाचक** ने द्रव्य का लक्षण 'उत्पाद व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्' बताया है और किसी भी द्रव्य के लिये यह लक्षण निर्दोष लक्षण दिखाई देता है।

हम '**स्याद्वाद्**' शैलि (पद्धति) से 'जीव' पर यह लक्षण घटावेंगे।

'आत्मा' यद्यपि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से नित्य है, किन्तु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से इसे 'अनित्य' भी मानना पड़ेगा। जैसे कि एक संसारी जीव पुण्य की अधिकता के समय जब मनुष्य योनि को छोड़ कर देव योनि में जाता है उस समय देवगति में उत्पत्ति (उत्पन्न होना) और मनुष्यपर्याय का व्यय (नाश) होता है, किन्तु दोनों ही गतियों में चेतन धर्म तो स्थायी रहा ही। इसलिए अब जो एकान्त नित्य मानने में आवे तो उत्पन्न किए हुए पुण्य पाप पुञ्ज-फिर जन्ममरण भाव से निष्फल जावेंगे और एकान्त अनित्य ही माना जाय तो पुण्य पाप करने वाला कोई और उस का भोगने वाला कोई दूसरा ही होता है। अतएव आत्मा में

कथञ्चित् नित्यत्व और कथञ्चित् अनित्यत्व अवश्य स्वीकार करना ही पड़ेगा।

यह तो हुआ चेतन का दृष्टान्त। परन्तु जड़ पदार्थों में भी 'उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्' यह द्रव्य का लक्षण स्याद्वाद की शैली से अवश्य ही घटता है। उदाहरणार्थ सोने की एक कण्ठी।

कण्ठी को गला कर एक कटोरा बनाया। जिस समय कण्ठी को गला कर कटोरा बनाते हैं, उस समय कटोरे की उत्पत्ति और कण्ठी का क्षय (व्यय) होता है और सुवर्णत्व ध्रुव है-विद्यमान है। ऐसे ही जगत के सभी पदार्थों में द्रव्य का यह उक्त लक्षण घटता है और यही 'स्याद्वादशैली' है। एकान्त नित्य अथवा एकान्तअनित्य कोई भी पदार्थ माना जा सकता ही नहीं। कण्ठी को गला कर कटोरा बनाने में कण्ठी का केवल आकार रूप ही बदला है। यह नहीं कि कण्ठी की कुल वस्तु का नाश हो कर कटोरा उत्पन्न हो गया। एकान्तनित्य तो तभी माना जाय कि कण्ठी का आकार चाहे जिस समय जैसे का वैसा ही कायम रहता हो-तोड़ने और गलाने पर भी। वैसे ही एकान्तअनित्य भी तभी माना जाय कि कण्ठी को तोड़ते-गलाते सर्वथा उसका नाश होता हो। उसमें का एक अंश भी दूसरी वस्तु में न आता हो।

इस प्रकार कुल पदार्थों में नित्यत्व, अनित्यत्व, प्रमेयत्व, वाच्यत्वादि धर्म हैं। इन धर्मों का सापेक्षरीति से स्वीकार

करना [illegible] धर्मों को सापेक्ष-रीति से देखना, इसी का नाम 'स्याद्वाद' है।

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में लगभग सभी दर्शनकारों ने इस स्याद्वाद को स्वीकार किया है, यह मैं अपने दार्शनिक अभ्यास पर से देख चुका हूँ। इन सब दर्शनकारों ने अलग अलग किस प्रकार 'स्याद्वाद' को माना है, इसके बतलाने में मुझे समय के अभाव को ध्यान में रखना पड़ता है और इस लिए मैं काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान 'स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित राममिश्र शास्त्री जी' के 'सुजन सम्मेलन' नामक व्याख्यान में स्याद्वाद सम्बन्धी कहे हुए शब्दों को यहाँ उद्धृत करूँगा —

"अनेकान्तवाद तो एक ऐसी वस्तु है। उसे सब को स्वीकार करना पड़ेगा। लोगों ने स्वीकृत भी किया है। देखो, विष्णुपुराण में लिखा है —

> नरकस्वर्गसंज्ञे वै पुण्य पापे द्विजोत्तम ! ।
> वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्याजिवाय च ॥
> कोपाय च यतस्तस्मात् वस्तु वस्त्वात्मक कुतः ?

यहाँ महर्षि पराशर कहते हैं कि 'वस्तु वस्त्वात्मक नहीं। इस का अर्थ ही यह है कि कोई भी वस्तु एकान्त से एक रुप नहीं। जो वस्तु एक समय सुख का हेतु है, वही दूसरे

क्षण में दुःख का कारण बनती है। और जो वस्तु किसी समय दुःख का कारण होती है। वही वस्तु क्षण भर में सुख का कारण भी होजाती है।

सज्जनो! आप समझ गये होंगे कि यहाँ स्पष्ट अनेकान्त वाद कहा गया है। एक दूसरी बात पर भी ध्यान दें। जो 'सदसद्व्यामनिर्वचनीय जगत्' कहते हैं वे भी विचार दृष्टि से देखें तो 'अनेकान्तवाद' मानने में उन्हें कोई हर्ज नहीं है। क्योंकि, जब वस्तु को 'सत्' भी नहीं कहसके और 'असत्' भी नहीं कह सके तो कहना पड़ेगा कि किसी प्रकार से 'सत्' होकर भी किसी प्रकार से 'असत्' है। इसलिए न तो यह सत् कही जासकी है और न 'असत्'। तो अब 'अनेकान्तता' मानना सिद्ध हुआ।

सज्जनो, नैयायिक 'तम' को 'तेजोऽभाव स्वरूप' कहते हैं और मीमांसक तथा वेदान्ति उसका खण्डन करके उसको 'भावस्वरूप' बतलाते हैं। तो अब देखने की बात यह है कि आज तक इसका कुछ भी निर्णय नहीं हुआ कि कौन सत्य कहता है? तब तो दो की लड़ाई में तीसरे की पौबारह है अर्थात् जैन सिद्धान्त सिद्ध हुआ। कारण कि, जैनसिद्धान्त कहता है 'वस्तु अनेकान्त है' उसे किसी प्रकार 'भावरूप' और किसी तरह 'अभावरूप' भी कहते हैं। इसी अनुसार कोई आत्मा को 'ज्ञानस्वरूप' कहते हैं तो कोई

उसे 'ज्ञानधार स्वरूप' बतलाते हैं। तब अब कहना ही क्या ? अनेकान्तवाद ने स्थान पालिया। इस प्रकार कोई ज्ञान को 'द्रव्यस्वरूप' मानता है तो कोई उसे 'गुणस्वरूप'। कोई जगत् को 'भावस्वरूप' कहते हैं तो कोई उसे 'शून्यस्वरूप सिद्ध करने की चेष्टा करता है। इन सब बातों के देखते तो अनायास 'अनेकान्तवाद' सिद्ध हुआ।"

इसी प्रकार काशी विश्वविद्यालय के प्रिन्सिपल प्रो० आनन्दशङ्कर बापुभाई ध्रुव ने अपने एक व्याख्यान में 'स्याद्वाद' सम्बन्ध में कहा था कि —

"स्याद्वाद, एकीकरण का दृष्टिबिन्दु हमारे सामने उपस्थित करता है। शङ्कराचार्य ने स्याद्वाद पर जो आक्षेप किया है वह मूल रहस्य के साथ सम्बन्ध नहीं रखता। यह निश्चय है कि विविध दृष्टिबिन्दुओं के द्वारा निरीक्षण करे बिना, कोई वस्तु उसके वास्तविक और पूर्णरूप में समझने में नहीं आसकती। इसके लिए स्याद्वाद उपयोगी तथा सार्थक है। महावीर के सिद्धान्त में बताये हुए स्याद्वाद को कई एक 'संशयवाद' कहते हैं, यह मैं नहीं मानता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं, बल्कि वह एक दृष्टिबिन्दु हमको और मिला देता है। विश्व का किस प्रकार अवलोकन किया जाना चाहिए, यह हम को सिखलाता है।"

इस प्रकार स्याद्वाद के सम्बन्ध में संक्षेप में मैंने उसका विवेचन किया है। अब मैं जैनदर्शन में माने गये द्रव्यों के सम्बन्ध में संक्षेप में उनका कुछ विवेचन करूंगा।

६ द्रव्य—

जैन दर्शन में ६ द्रव्य माने गये हैं, जिनके नाम यह हैं—

१ धर्मास्तिकाय २ अधर्मास्तिकाय ३ आकाशास्तिकाय ४ पुद्गलास्तिकाय ५ जीवास्तिकाय और ६ काल। इन छः ही के द्रव्यों की संक्षिप्त व्याख्या देखें।

१ धर्मास्तिकाय—संसार में इस नाम का एक अरूपी (रूपरहित) पदार्थ है। जीव और पुद्गल (जड़) की गति में सहायक होना इस पदार्थ का कार्य है। यद्यपि जीव और पुद्गल में चलने का सामर्थ्य है किन्तु धर्मास्तिकाय की सहायता के बिना वह फलीभूत नहीं होता। जैसे कि मछली में चलने का सामर्थ्य है किन्तु बिना पानी के वह नहीं चल सकती। वैसे ही यह पदार्थ जीव और पुद्गल की चलनक्रिया में सहायक होता है। इस धर्मास्तिकाय के तीन भेद हैं—१ स्कन्ध, २ देश और ३ प्रदेश।

एक समूहात्मक पदार्थ को 'स्कन्ध' कहा जाता है। उसके जुदे जुदे भागों को देश कहते हैं और प्रदेश वह कहलाता है जिसका फिर विभाग नहीं हो सकता।

२ अधर्मास्तिकाय—यह भी एक रूपहीन (अरूपी) पदार्थ है। जैसे पथिक को स्थित करने में-स्थिर होने में-वृक्ष की छाया सहायक होती है, वैसे ही जीव और पुद्गल के स्थिर होने में यह पदार्थ सहायक होता है।

इन्हीं दो पदार्थों के अवलम्बन करने पर ही जैनशास्त्रों में लोक और अलोक की व्यवस्था बताई गई है। अर्थात् जहां तक यह दो पदार्थ विद्यमान हैं वहीं तक ही लोक और उससे परे अलोक है। अलोक में सिवाय आकाश के और दूसरा कुछ नहीं। और उसके लिए ही मोक्ष में जाने वाले जीवों की गति लोक के अन्त तक बताई है, उससे आगे दो शक्तियों धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय (इन दो पदार्थों) का अभाव होने से जीव की गति नहीं हो सकती। यदि यह दोनों पदार्थ न माने जावें तो जीव की उर्ध्वगति बराबर होती ही रहे, और उसके मानने पर मोक्षस्थान की व्यवस्था ठीक निश्चय हो नहीं सकती। और अनवस्था दोष प्राप्त होता है। परन्तु उक्त दो पदार्थों-दो शक्तियों की नियमानता मानने से यह सर्व अड़चनें दूर हो जाती हैं। इस अधर्मास्तिकाय के भी स्कन्ध, देश और प्रदेश यह तीन भेद माने गये हैं।

३ आकाशास्तिकाय—यह भी एक रूपरहित पदार्थ है। यह जीव और पुद्गल को अवकाश देता है। यह आकाश

पदार्थ लोक और अलोक-दोनों में है। इसके भी स्कन्धादि पूर्वोक्त ३ भेद हैं।

४ पुद्गलास्तिकाय—परमाणु से लेकर स्थूल या अतिस्थूल सभी रूपी पदार्थ पुद्गल हैं। इसके ४ भेद हैं—१ स्कन्ध, देश, ३ प्रदेश और ४ परमाणु। प्रदेश और और परमाणु में मुख्य विशेष अन्तर नहीं। जो निर्विभाग दूसरे भागों के साथ मिला रहे, वह प्रदेश है और वही निर्विभाग अलग हो तो वह परमाणु कहलाता है।

५ जीवास्तिकाय—जीवास्तिकाय का लक्षण यह है—

य कर्त्ता कर्मभेदाना भोक्ता कर्मफलस्य च।
ससर्त्ता परिनिर्वाता सह्यात्मा नाऽन्यलक्षण ॥

कर्मों का करने वाला, कर्म के फलों का भोगने वाला, कर्मानुसार शुभाशुभ गतियों में जाने वाला और सम्यग् ज्ञानादि के कारण से कर्म के समूह का नाश करने वाला आत्मा-जीव है। जीव का इससे दूसरा कोई स्वरूप (लक्षण) नहीं।

ऊपर के पाच द्रव्यों में प्रत्येक के साथ 'अस्तिकाय' शब्द जोड़ा गया है इसका अर्थ यह है कि जिसमें प्रदेशों का समूह हो, वह 'अस्तिकाय' है। (अस्ति = प्रदेश + काय = समूह)। धर्म, अधर्म और जीव, इनके असख्य प्रदेश, आकाश

के दो भेद—१ लोकाकाश २ अलोकाकाश । इनमें लोकाकाश असख्य प्रदेश वाला और अलोकाकाश अनन्त प्रदेश वाला और पुद्गल के सख्य, असख्य और अनन्त प्रदेश होते हैं। इसलिए उक्त लिखित पाँच द्रव्य 'अस्तिकाय' कहलाते हैं।

६ काल—छठा द्रव्य काल है। यह-काल-पदार्थ कल्पित है। औपचारिक द्रव्य है। असद्भाव में सद्भाव का ज्ञान उपचार कहा जाता है। मुहूर्त, दिन, रात्रि, मास, वर्ष यह सब काल के विभाग किये गये हैं। ये असद्भूत क्षणों को बुद्धि में उपस्थित कर किये गये हैं। गया (बीता हुआ) समय नष्ट हुआ और भविष्य का समय अभी असत् है, तब वर्त्तमान क्षण ही सद्भूत काल है। इस पर से मालूम किया जा सकता है कि एक क्षण मात्र काल में प्रदेश की कल्पना हो नहीं सकती। और इसी से 'काल' के साथ 'अस्तिकाय' का प्रयोग नहीं किया जाता।

जैन शास्त्रों में काल के मुख्य दो विभाग किये गये हैं— १ उत्सर्पिणी और २ अवसर्पिणी।

जिस समय में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन चारों की क्रमश वृद्धि होती है, वह उत्सर्पिणी काल है। और इन चार पदार्थों का क्रमश ह्रास हो, वह अवसर्पिणी काल

है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के भी प्रत्येक के ६ विभाग हैं जिनको आरा कहा जाता है। अर्थात् एक कालचक्र में उत्सर्पिणी के १-२-३-४-५-६ ऐसे क्रम से आरे आते हैं। अवसर्पिणी में उससे उलटा यानी ६-५-४-३-२-१ आरे आते हैं। इन दोनों कालों में चौवीस चौवीस तीर्थंकर होते हैं।

उक्त लिखित ६ प्रकार के द्रव्यों की व्याख्या को द्रव्यानुयोग कहते हैं। जैन शास्त्रों में चार अनुयोग बताये गये हैं — १ द्रव्यानुयोग २ गणितानुयोग ३ चरणकरणानुयोग ४ कथानुयोग।

द्रव्यानुयोग में ऊपर लिखे अनुसार द्रव्यों की व्याख्या— पदार्थों की सिद्धि बतलाई गई है। गणितानुयोग में ग्रह, नक्षत्र, तारे और पृथ्वी के क्षेत्रों आदि के सम्बन्ध में वर्णन है। चरणकरणानुयोग में चारित्र्य, आचार, विचार आदि का वर्णन है। कथानुयोग में महापुरुषों के चरित्रों आदि का वर्णन है। समग्र जैनसाहित्य—जैन आगम इन चार विभागों में विभक्त है। इसकी व्याख्या विवेचन भी आवश्यक है परन्तु निबन्ध के विस्तारभय से इसका विवेचन न करते हुए केवल अनुरोध करता हूँ कि उक्त ६ द्रव्यों का विस्तृत विवेचन देखने के अभिलाषी और उत्सुक सज्जन सम्मतितर्क, रत्नाकरावतारिका एवं भगवती आदि ग्रन्थों को देखें।

नवतत्त्व—

जैनशास्त्रों में नवतत्त्व माने गये हैं। उनके नाम यह हैं—

१ जीव २ अजीव ३ पुण्य ४ पाप ५ आश्रव ६ संवर ७ बंध ८ निर्जरा ९ मोक्ष।

१ जीव—जीव लक्षण 'चेतना लक्षणो जीव' कहा जा सकता है। जिसमें चैतन्य है, वह जीव है। इस जीव के मुख्य दो भेद हैं—१ संसारी और २ मुक्त। मुक्त वह है कि जो समस्त कर्मों का क्षय कर सिद्ध निरंजन परब्रह्म स्वरूप को प्राप्त करते हैं। इसी को दूसरे शब्दों में कहें तो मोक्ष में गए हुए या परमात्म स्वरूप को पहुँचे हुए जीव मुक्त जीव हैं। इस विषय में कुछ वर्णन प्रारम्भ में ईश्वर सम्बन्धी प्रकरण में किया जा चुका है।

अब रहे संसारी। कर्म से बँधे हुए कर्मयुक्त दशा को भोगने वाले जीव संसारी जीव कहे जाते हैं। चार गति का नाम संसार है अर्थात् देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक। कर्मबद्धावस्था के कारण जीव इन चार गतियों में परिभ्रमण करता है। संसारी जीव के मुख्य दो भेद हैं:— १त्रस और २ स्थावर। स्थावर के पांच भेद हैं—१ पृथ्वीकाय २ अप्काय, ३ तेजस्काय, ४ वायुकाय, वनस्पतिकाय। इन पाँचों प्रकार के जीव एकेन्द्रियवाले-त्वगेन्द्रिय वाले होते हैं।। इनके भी दो भेद हैं—सूक्ष्म, स्थूल। सूक्ष्म जीव समस्त लोकों में व्याप्त हैं—समस्त लोकाकाश इन जीवों

से परिपूर्ण है। त्रसजीवों में दोइन्द्रिय, त्रीइन्द्रिय, चतुरेंद्रिय और पंचेंद्रिय का समावेश होता है। ये जीव हिलने चलने की क्रिया करने से 'त्रस' कहलाते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों की चार कक्षाएँ हैं—यथा १ नारक २ तिर्यंच ३ मनुष्य और ४ देवता। नरक सात हैं इसलिये नारकी के जीवों की कक्षाएं भी सात हैं। तिर्यंच के पाँच वर्ग हैं। —१ जलचर २ स्थलचर ३ खेचर ४ उरपरिसर्प और ५ भुजपरिसर्प। मनुष्य की तीन कक्षाएँ हैं —१ कर्मभूमिज २ अकर्मभूमिज और ३ अन्तर्द्विपज। देवता ४ कक्षाओं में हैं—१ भवनपति २ व्यंतर ३ ज्योतिष्क ४ वैमानिक।

इस प्रकार संसारी जीवों के अनेक भेदानुभेद बताये गये हैं। जीवों की सूक्ष्मता, जीवों की शक्तियें और जीवों की क्रियाएं जैसे जैसे विज्ञान का विकास होता जा रहा है, लोगों की समझ में अधिकाधिक आती जा रही हैं। जीवों के सम्बन्ध में जैन शास्त्रों में अत्यन्त सूक्ष्मता से वर्णन करने में आया है, वह विज्ञान से मिलता आता है। जीवों की सूक्ष्मता के संबंध में जैनशास्त्रों में जो वर्णन है उसे बाँच कर अभी तक लोग उसे अश्रद्धा की दृष्टि से देखते थे, किन्तु जबसे विज्ञानवेत्ताओं ने थेकसस नामक प्राणि जो सुई के अग्रभाग पर एक लाख जैसी संख्या में आसानी से बैठ सकता है—के अस्तित्व का आविष्कार किया है तब से लोगों की श्रद्धा शास्त्र द्वारा

प्रतिपादित जीवों की सूक्ष्मता पर होने लगी है । इसी प्रकार अब से हमारे भारत के मुखोज्वलकारी जगत्प्रसिद्ध वैज्ञानाचार्य्य श्रीजगदीशचन्द्र [वसु महोदय ने वनस्पति में होने वाले जीवों की शक्तियों का चमत्कारी वर्णन प्रत्यक्ष कर दिखलाया सब लोगों की आँखें खुलीं। ध्यान में रखना चाहिए कि आज जिन बातों को विज्ञानवेत्ता प्रयोग और यन्त्रों के द्वारा प्रत्यक्ष कर दिखला रहे हैं उन्हीं बातों को जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर ने आज से पचीस सौ वर्ष पूर्व अपने ज्ञान के द्वारा जनता को समझाई थीं। जैन शास्त्रों में ऐसी कई एक बातें हैं जो किसी भी विज्ञान की कसौटी पर सिद्ध होने जैसी है। हाँ, उन बातों को विज्ञान द्वारा देखना चाहिए। जैनशास्त्रों में 'शब्द' को पौद्गलिक बताया है। यही बात आज तार, टेलीफोन और फोनोग्राफ के रिकार्ड्स में उतरते शब्दों से सिद्ध होती है। बात इतनी ही है कि केवल प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

२ अजीव—दूसरा तत्व अजीव है, चेतना का अत्यन्ताभाव, अजीव का लक्षण है। जड़ या अचेतन यह दोनों एक ही अर्थ के सूचक-पर्य्यायवाची शब्द हैं। यह अचेतन जड़ तत्व पाच विभागों में विभक्त है—१ धर्मास्तिकाय २ अधर्मास्तिकाय ३ आकाशास्तिकाय ४ पुद्गलास्तिकाय और ५ काल। इन पाचों की व्याख्या पहिले करदी गई है।

३ ४ पुण्य और पाप—शुभ कर्म को उत्पन्न करने
वाला कारण-(हेतु) पुण्य और अशुभकर्म को उपार्जन
वाला कारण पाप है। सम्पत्ति, आरोग्य, रूप,
स्त्री, दीर्घ आयुष्य इत्यादि इहलौकिक सुख
ही स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति जिनसे प्राप्त हो उन
पुण्य कहते हैं और इसके विपरीत जिन
साधन प्राप्त होते हैं—वे सब पाप कहे जाते

५ आश्रव—आश्रयतेऽनेन कर्म इति
जिस मार्ग के द्वारा कर्म आते हैं वह
के हेतु ही आश्रव हैं। मिथ्यात्व,
योग से कर्मोपार्जन होता है। उसमें
प्रतिभास होना मिथ्यात्व है,
अविरति है; क्रोध, मान, माया,
मन, वचन, काया का व्यापार
का और अशुभ योग पाप का

६ संवर—आने वाले कर्मों
कहलाता है। संवर धर्म का
संवर में थोड़ा ही अन्तर है।
संवर आते हुए कर्मों को

७ बन्ध—कर्म का आत्मा के साथ जुड़ने का नाम बन्ध है। कर्म के पुद्‌गल अखिल लोक में ठूस ठूस कर भरे हैं। यह पुद्‌गल आत्मा पर लगी हुई रागद्वेष की चिकनाई के कारण आत्मा पर आ लगते हैं। यह बन्ध चार प्रकार का है—१ प्रकृतिबन्ध २ स्थितिबन्ध ३ रसबन्ध और ४ प्रदेश बन्ध।

कर्म के मूल ज्ञानावरणीयादि आठ भेद, यह उसका प्रकृतिबन्ध है। कर्मबंधन के समय उसकी स्थिति अर्थात् उस कर्म का फल कितनी अवधि तक भोगना पड़ेगा यह भी निर्माण होता है, इसे स्थितिबन्ध कहते हैं। कितने ही कर्म कड़ुवे रस से बन्धते हैं तो कितने ही मीठे रस से-ऐसे विचित्र रूप से कर्म बंधे, यह उसका रसबन्ध कहा जाता है। कोई कर्म अत्यन्त गाढ़ा, कोई गाढ़ा, कोई शिथिल और कोई अति शिथिल रूप में बंधते हैं अर्थात् कोई कर्म पतले तो कोई स्थूल इस तरह बंधते हैं, इन्हें प्रदेशबन्ध कहते हैं।

कर्म के सम्बन्ध में कितना ही वर्णन पूर्व कर चुका हूँ इसलिए यहाँ अब विशेष विस्तार नहीं करूँगा।

८ निर्जरा—बांधे हुए कर्मों का क्षय करना, कर्मों का भोगने के बाद पृथक् हो जाना, इसे निर्जरा कहते हैं। कर्म दो रीति से पृथक् होते हैं—१ 'मेरे कर्म का क्षय हो जाय', ऐसी बुद्धि रख कर ज्ञान, ध्यान, तप, जप आदि करने से कर्म

३ ४ पुण्य और पाप—शुभ कर्म को उत्पन्न करने वाला कारण-(हेतु) पुण्य और अशुभकर्म को उपार्जन करने वाला कारण पाप है। सम्पत्ति, आरोग्य, रूप, कीर्ति, पुत्र, स्त्री, दीर्घ आयुष्य इत्यादि इहलौकिक सुख के साधन, वैसे ही स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति जिनसे प्राप्त हो उन शुभकर्मों को पुण्य कहते हैं और इसके विपरीत जिन कर्मों से दुख के साधन प्राप्त होते हैं—वे सब पाप कहे जाते हैं।

५ आस्रव—आस्रूयतेऽनेन कर्म इति आस्रव। अर्थात् जिस मार्ग के द्वारा कर्म आते हैं वह आस्रव है। कर्मोपादान के हेतु ही आस्रव हैं। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग से कर्मोपार्जन होता है। उसमें वस्तुस्वरूप से विपरीत प्रतिभास होना मिथ्यात्व है, हिंसा अनृतादि से दूर न होना अविरति है, क्रोध, मान, माया, लोभ यह कषाय हैं और मन, वचन, काया का व्यापार योग है। इसमें शुभयोग पुण्य का और अशुभ योग पाप का हेतु है।

६ संवर—आने वाले कर्मों को रोकने वाला तत्त्व संवर कहलाता है। संवर धर्म का कारण (हेतु) है। पुण्य और संवर में थोड़ा सा अन्तर है। पुण्य से शुभकर्म बँधते हैं और संवर आते हुए कर्मों को रोकने का काम करता है।

७ बन्ध—कर्म का आत्मा के साथ जुड़ने का नाम बन्ध है। कर्म के पुद्गल अखिल लोक में ठूस ठूस कर भरे हैं। यह पुद्गल आत्मा पर लगी हुई रागद्वेष की चिकनाई के कारण आत्मा पर आ लगते हैं। यह बन्ध चार प्रकार का है—१ प्रकृतिबन्ध २ स्थितिबन्ध ३ रसबन्ध और ४ प्रदेश बन्ध।

कर्म के मूल ज्ञानावरणीयादि आठ भेद, यह उसका प्रकृतिबन्ध है। कर्मबन्धन के समय उसकी स्थिति अर्थात् उस कर्म का फल कितनी अवधि तक भोगना पड़ेगा यह भी निर्माण होता है, इसे स्थितिबन्ध कहते हैं। कितने ही कर्म कड़ुवे रस से बन्धते हैं तो कितने ही मीठे रस से-ऐसे विचित्र रूप से कर्म बंधे, यह उसका रसबन्ध कहा जाता है। कोई कर्म अत्यन्त गाढ़ा, कोई गाढ़ा, कोई शिथिल और कोई अति शिथिल रूप में बंधते हैं अर्थात् कोई कर्म पतले तो कोई स्थूल इस तरह बंधते हैं, इन्हें प्रदेशबन्ध कहते हैं।

कर्म के सम्बन्ध में कितना ही वर्णन पूर्व कर चुका हूँ इसलिए यहां अब विशेष विस्तार नहीं करूँगा।

८ निर्जरा—बांधे हुए कर्मों का क्षय करना, कर्मों का भोगने के बाद पृथक् हो जाना, इसे निर्जरा कहते हैं। कर्म दो रीति से पृथक् होते हैं—१ 'मेरे कर्म का क्षय हो जाय', ऐसी बुद्धि रख कर ज्ञान, ध्यान, तप, कर्म

के लिए नहीं, सदैव सभी के लिए बुरी ही हैं। आत्म
विकास के साधनों–वास्तविक साधनों से कोई इन्कार क
नहीं सकता है। सुप्रसिद्ध महर्षि जैनाचार्य उमास्व
महाराज ने सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरित्राणि मोक्षम
अर्थात् सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र
'मोक्ष का मार्ग, बताया है। वास्तव में इस मार्ग में
को भी बाधा नहीं दिखाई दे सकती।

सारांश यह कि जैन शास्त्र के कथनानुसार कोई भ
या कोई भी देश, कोई भी जाति या कोई भी धर्म, को
सम्प्रदाय या कोई भी कुल चाहे जहाँ रहा हुआ या
हुआ मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। हाँ, उसमें सम्यक
सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र उत्पन्न होना चाहिए
को दूसरे शब्दों में कहा जाय तो 'समभाव' कह सक
सभी जीवों को अपने ही समान उनमें अपनी ही आ
समान आत्मा समझने की दृष्टि हो अथवा सुख या
अच्छा या बुरा, प्रिय या अप्रिय, सभी को एक ही
देखने की दृष्टि हो ऐसा कोई भी मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर
है। इस बात को जैनशास्त्रकार इन शब्दों में कहते हैं

सेयंबरो अ आसंबरो व बुद्धो व अहव अन्नो वा,
समभावभाविअप्पा लहेइ मुक्खं न संदेहो।

श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बुद्ध हो किंवा अन्य।
आत्मा समभाव से भावित है, वह अवश्य मोक्ष प्राप्त
इसमें संदेह नहीं।

*

सज्जनो, अब मैं अपना निबन्ध पूरा करते हुए केवल इतना ही कहूगा कि-जैनदर्शन में ऐसे अमेय, अकाट्य और अगम्य तत्त्व भरे हुए हैं कि जिनका वर्णन मेरे जैसा अल्पज्ञ और वह भी ऐसे छोटे से लेख में कर ही नहीं सकता है। नय, निक्षेप, प्रमाण, सप्तभंगी और ऐसी कई बातें हैं कि जिनका वर्णन आवश्यकीय होते हुए भी मुझे छोड देना पडा है। इनको जानने के लिये मेरा अनुरोध है कि विद्वानों को सम्मतितर्क, प्रमाण परिभाषा, सप्तभंगी-तरंगिणी, रत्नाकरावतारिका, स्याद्वादमञ्जरी और इन सब के उपरान्त सूत्रों में जीवाभिगम, पन्नवणा, ठाणांग, आचारांग और भगवती आदि सूत्रों का अवलोकन करना चाहिए।

अन्त में, आप सब ने मेरा वक्तव्य शान्तिपूर्वक श्रवण किया है इसके बदले में आप का आभार मानने के साथ ही, जिस समभाव से मुक्ति प्राप्त करने का मैं अभी प्रतिपादन कर चुका हूँ उसी समभाव को प्राप्त कर आप सब मोक्ष सुख के भोक्ता बनें, यही मेरी अन्तःकरण से इच्छा है।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति

—※—

के लिए नहीं, सदैव सभी के लिए बुरी [illegible] हैं। आत्मा के त्रिकाश के साधनों–वास्तविक साधनों से कोई इन्कार कर ही नहीं सकता है। सुप्रसिद्ध महर्षि जैनाचार्य उमास्वाति महाराज ने **सम्यक् दर्शन ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः** अर्थात् सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को ही **'मोक्ष का मार्ग,** बताया है। वास्तव में इस मार्ग में किसी को भी बाधा नहीं दिखाई दे सकती।

सारांश यह कि जैन शास्त्र के कथनानुसार कोई भी देश या कोई भी वेश, कोई भी जाति या कोई भी धर्म, कोई भी सम्प्रदाय या कोई भी कुल चाहे जहाँ रहा हुआ या जन्मा हुआ मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। हाँ, उसमें सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र उत्पन्न होना चाहिए। इसी को दूसरे शब्दों में कहा जाय तो **'समभाव'** कह सकते हैं। सभी जीवों को अपने ही समान, उनमें अपनी ही आत्मा के समान आत्मा समझने की दृष्टि हो अथवा सुख या दुःख, अच्छा या बुरा, प्रिय या अप्रिय, सभी को एक ही भाव से देखने की दृष्टि हो ऐसा कोई भी मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इस बात को जैनशास्त्रकार इन शब्दों में कहते हैं —

सेयंबरो य आसंबरो य बुद्धो य अहव अन्नो वा,
समभावभाविअप्पा लहेइ मुक्खं न संदेहो।

श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बुद्ध हो किंवा अन्य। जिसका आत्मा समभाव से भावित है, वह अवश्य मोक्ष प्राप्त करेगा, इसमें सन्देह नहीं।

सज्जनो, अब मैं अपना निबन्ध पूरा करते हुए केवल इतना ही कहूंगा कि-जैनदर्शन में ऐसे अमेध, अकाट्य और अगम्य तत्त्व भरे हुए हैं कि जिनका वर्णन मेरे जैसा अल्पज्ञ और वह भी ऐसे छोटे से लेख में कर ही नहीं सकता है। नय, निक्षेप, प्रमाण, सप्तभंगी और ऐसी कई बातें हैं कि जिनका वर्णन आवश्यकीय होते हुए भी मुझे छोड़ देना पड़ा है। इनको जानने के लिये मेरा अनुरोध है कि विद्वानों को सम्मतितर्क, प्रमाण परिभाषा, सप्तभंगी-तरंगिणी, रत्नाकरावतारिका, स्याद्वादमञ्जरी और इन सब के उपरान्त सूत्रों में जीवाभिगम, पन्नवणा, ठाणांग, आचारांग और भगवती आदि सूत्रों का अवलोकन करना चाहिए।

अन्त में, आप सब ने मेरा वक्तव्य शान्तिपूर्वक श्रवण किया है इसके बदले में आप का आभार मानने के साथ ही, जिस समभाव से मुक्ति प्राप्त करने का मैं अभी प्रतिपादन कर चुका हूं उसी समभाव को प्राप्त कर आप सब मोक्ष सुख के भोक्ता बनें, यही मेरी अन्तःकरण से इच्छा है।

ॐ शान्तिः शान्ति शान्ति

के लिए नहीं, सदैव सभी के लिए खुली ही है। आत्मा के विकाश के साधनों-वास्तविक साधनों से कोई इन्कार कर ही नहीं सकता है। सुप्रसिद्ध महर्षि जैनाचार्य उमास्वाति महाराज ने सम्यक् दर्शन ज्ञान-चरित्राणि मोक्षमार्ग अर्थात् सम्यक् दर्शन सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को ही 'मोक्ष का मार्ग' बताया है। वास्तव में इस मार्ग में किसी को भी बाधा नहीं दिखाई दे सकती।

सारांश यह कि जैन शास्त्र के कथनानुसार कोई भी देश या कोई भी वेश, कोई भी जाति या कोई भी धर्म, कोई भी सम्प्रदाय या कोई भी कुल चाहे जहाँ रहा हुआ या जन्मा हुआ मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। हाँ, उसमें सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र उत्पन्न होना चाहिए। इसी को दूसरे शब्दों में कहा जाय तो 'समभाव' कह सकते हैं। सभी जीवों को अपने ही समान, उनमें अपनी ही आत्मा के समान आत्मा समझने की दृष्टि हो अथवा सुख या दुःख, अच्छा या बुरा, प्रिय या अप्रिय, सभी को एक ही भाव से देखने की दृष्टि हो ऐसा कोई भी मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इस बात को जैनशास्त्रकार इन शब्दों में कहते हैं —

सेयंबरो य आसंबरो य बुद्धो य अहव अन्नो वा,

समभावभावियप्पा लहेइ मुक्खं न संदेहो।

श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बुद्ध हो किंवा अन्य। जिसका आत्मा समभाव से भावित है, वह अवश्य मोक्ष प्राप्त करेगा, इसमें सन्देह नहीं।

सज्जनो, अब मैं अपना निबन्ध पूरा करते हुए केवल इतना ही कहूंगा कि-जैनदर्शन में ऐसे अभेद्य, अकाट्य और अगम्य तत्त्व भरे हुए हैं कि जिनका वर्णन मेरे जैसा अल्पज्ञ और वह भी ऐसे छोटे से लेख में कर ही नहीं सकता है। नय, निक्षेप, प्रमाण, सप्तभंगी और ऐसी कई बातें हैं कि जिनका वर्णन आवश्यकीय होते हुए भी मुझे छोड़ देना पड़ा है। इनको जानने के लिये मेरा अनुरोध है कि विद्वानों को सम्मतितर्क, प्रमाण परिभाषा, सप्तभंगी-तरंगिणी, रत्नाकरावतारिका, स्याद्वादमञ्जरी और इन सब के उपरान्त सूत्रों में जीवाभिगम, पन्नवणा, ठाणांग, आचारांग और भगवती आदि सूत्रों का अवलोकन करना चाहिए।

अन्त में, आप सब ने मेरा वक्तव्य शान्तिपूर्वक श्रवण किया है इसके बदले में आप का आभार मानने के साथ ही, जिस समभाव से मुक्ति प्राप्त करने का मैं अभी प्रतिपादन कर चुका हूँ उसी समभाव को प्राप्त कर आप सब मोक्ष सुख के भोक्ता बनें, यही मेरी अन्तःकरण से इच्छा है।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति